जयशंकर प्रसाद के उपन्यासों के वस्तु विधायन में प्रगतिकामी दृष्टि

प्राप्तिः 26.01.2021
स्वीकृतः 05.03.2021

डॉ0 कल्पना माहेश्वरी
एसो0 प्रोफे0 एवं हिन्दी विभाग
ए0के0पी0 (पी.जी.) कॉलिज, खुरजा, बुलन्दशहर
Email:

सारांश

हिन्दी उपन्यास–साहित्य में प्रसाद का प्रवेश 'कंकाल' सन् – 1929 के द्वारा होता है, यह उपन्यास धर्म और समाज की निस्सारता का व्यंग्यपर्ण चित्रण करता है। प्रसाद जी पहली बार इस उपन्यास के माध्यम से वस्तुवाद की ओर झुकते दिखायी देते है और उनकी अतीत और कल्पनाप्रियता के विपरीत यह उपन्यास जीवन की वास्तविकता के अधिक निकट है। समाज के खोखले और सड़े–गले स्वरूप की निस्सारता पर इस उपन्यास में तीखा व्यंग्य किया गया है। इसे प्रसाद जी की प्रगतिकामिता की सर्वोत्कष्ट अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। समाज की प्रचलित मान्यताओं में घुटते व्यक्ति की विवशता का चित्रण करके समाज की आन्तरिक कुरूपता इसमें प्रकट की गयी है और धर्म निष्ठ हिन्दू समाज की धर्महीनता का चित्रण किया गया है। ''कंकाल'' के लेखक का प्रयोजन प्रचलित समाज उसके विश्वासों और कार्यप्रणालियों और उसके अर्थकारी बंधनों। चाहे वह बंधन प्रत्यक्ष हो, मानसिक हो अथवा संस्कार रूप में हो, के विरूद्ध जबरदस्त प्रोपेगण्डा करना है। समाज की एक भी मान्यता उसमें स्वीकार नहीं की गयी है। सबकी जड़े हिला दी गयी है। एक भी ईमानदार आदमी, जिस अर्थ में ईमानदारी मानी गयी है, सारे समाज में नहीं है जिसे सामाजिक पैमाने के अनुसार ऊँच–नीच या कुलीन–अकुलीन मानते है, उसकी खिल्ली उड़ायी गयी है। ''सबसे कच्चे चिटठे खोलकर रखे गये है। कहीं शाही घराने की महिषियां गुंजरो के घरो में विराजमान है कहीं सुसभ्य पादरी साहब स्थिति होना छोकरी के प्रेमपाश में पड़े हुए है। कामनना के तीव्र बाह्य प्रवाह में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई जातीयता बही जा रही है धर्म की समस्त सामाजिक प्रक्रियायें मटियामेट हो रही हैं, इतिहास के आलोक में कुलीनता का कुहासा साफ हुआ जा रहा है।''[1]

प्रसाद जी ने सामाजिक असमानताओं कुरीतियों और धार्मिक व्यवहारों के प्रति घष्णा उत्पनन करके नये पथ का जो संकेत दिया है वह उनकी प्रगतिकामी विचारधारा का अनूठा प्रमाण है। उनकी मान्यता है कि झूठी महत्ता का त्याग करके वर्गवाद और जातिवाद को जड़ से उखाड़ देना होगा।

कंकाल की सबसे प्रमुख समस्या समाज–संतष्प्त नारी की समस्या है, मात्र प्रेम की नहीं, नारी की मुख्य समस्या आर्थिक स्वातन्त्रय और सामाजिक अधिकार सम्बन्धी है प्रसाद जी ने प्रेम की समस्या को पेट की समस्या से अलग करके नहीं देखा है, नारी के उत्पीड़न और संताप के प्रति उनकी दषष्टि अति मार्मिक है जिसे यमुना के शब्दों में उपन्यासकार ने प्रकट किया है। ''कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं वहन् सब पुरूषों के है। सब ह्दय को कुचलने वाले क्रुर है। फिर भी मैं समझती हॅ कि स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना, दुर्देव के विधान ने उनके लिये यही पूर्णता बना दी है। यह उनकी रचना है।''[2] उपन्यास में यमुना घण्टी, लतिका, नन्दी, किशोरी इत्यादि स्त्रियां किसी न किसी रूप में पुरूष की क्रूरता और विश्वासघात से पीड़ित है। यमुना को मंगल से धोखा मिला, घंटी का जीवनक्रम पुरूषों की प्रवंचना के कारण अनिश्चित बना, लतिका पति से तिरस्कष्त हुयी, ननदो का प्रेम–सम्बन्ध बहुत थोड़े समय में समाप्त हो गया, किशोरी से भी उसका प्रेमी अंत में विमुख हो गया। कहना न होगा कि कंकाल का नारी समाज पुरूषों के अत्याचार का पक्का साथी बनकर हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ है। इस उपन्यास में प्रसाद जी ने लिखा है– ''पुरूष स्त्रियों पर सदैव अत्याचार करते है, कहीं नहीं सुना गया कि अमुक स्त्री ने अमुक पुरुष के प्रति ऐसा ही अन्याय किया परन्तु पुरूषों का यह साधारण व्यवसाय है–स्त्रियों पर आक्रमण करना।''[3] नारी पर पुरूष यदि दया और सहानुभूति प्रदर्शित करता है तो वह भी निश्छल नहीं है, यमुना लतिका से कहती है– ''जब मैं स्त्रियों के ऊपर दया दिलाने का उत्साह पुरूषों में देखती हूॅ तो जैसे कट जाती हूॅ, ऐसा जान पड़ता है कि यह सब कोलाहल स्त्री जाति की लज्जा की मेप माला है उसकी असहाय परिस्थिति का व्यंग्य–उपहास है। पुरूषों का स्वार्थ–प्रेम विश्वासघात और तिरस्कार दया और सहानुभूति के आवरण में नहीं छिपता।''[4] मुक्त भोगी नारी इस प्रबंधना के प्रति विद्रोह भाव रखती है। सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करके भी नारी अपने जन्मसिद्ध अधिकार को नही खोना चाहती। हिन्दू समाज में नारी की दया का सच्चा चित्र घंटी के इस कथन से स्पष्ट होता है–''हिन्दू स्त्रियों का समाज की वैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो आदेश है, वहां प्राकषतिक, स्त्री–जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है–जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियां किया करती है–उसे क्यों छोड़ दूॅ। यह कैसे हो, क्या हो, और क्यों को इसका विचार पुरूष स्त्रियों को भरना पड़ता है। तब इधर–उधारा देखने से क्या। भरना है यही सत्य है उसे दिखाने के आदर से व्याह रके भरा तो या व्यभिचार कहकर तिरस्कार से।''[5] सामाजिक व्यवस्था के प्रति नारी के अन्तरिक विद्रोह की सूचना इस कथन में विद्यमान है। यह विद्रोह वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक है। ''विवाह–संस्था'' के प्रश्न पर भी प्रसाद जी ने पर्याप्त प्रकाश डाला है, जहां ह्दय में परस्पर प्रेम है और आन्तरिक मिलन हो चुका है वहां सामाजिक रीति–नीति का उल्लंघन विशेष चिन्तनीय नहीं।''[6] प्रसाद जी के इन शब्दों में विवाह संस्था के प्रति विद्रोह ही व्यक्त हुआ है। जो कहते है अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छंखल है, वे भ्रान्त है, ह्दय का सम्मिलन ही तो व्याह है, में सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूॅ और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों–मंत्रों का महत्व कितना। झगड़े की, विनिमय की यदि सम्भावना रही तो वह समर्पण ही कैसा, में स्वतंत्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता है, समान न करे तो क्या?'' प्रताप भी इस स्वालम्बतावादी और बुद्धिवादी व्याख्या में प्रसाद की प्रगतिशीलता

प्रेमचन्द से भी आगे बढ़ जाती है। मैं तो समझती हूँ कि प्रसाद युग तक विवाह संस्था के विरूद्ध इतने तीव्र विद्रोह के स्वर पहली बार उभरे है। स्त्रियों को उनके उचित अधिकार देने होंगे, दष्टा रचाकार प्रगति की इस सम्भावना से पूरी तरह परिचित था इसीलिए भारत संघ की स्थापना का उद्देश्य घोषित करते हुये प्रसाद जी ने लिखा है – घरों में पदों की दीवारों के भीतर नारी जाति के स्वास्थ्य और संपत स्वतन्त्रता की घोषणा करें, उन्हें सहायता पहुंचायें, जीवन के अनुभवों से अवगत करें उनमें उन्नति, सहानुभूति, क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश फैलायें, हमारा देश इस सन्देश से नवयुग के सन्देश से स्वास्थ्य लाभ करें। इन आर्य ललनाओं का उत्साह सफल हो, यही भगवान से प्रार्थना है।''[7] भारत के उज्ज्वल भविष्य की प्रगतिकामी इच्छा इस कथन से व्यक्त होती है। वास्तव में कंकाल नारी जागरण के युग की पूर्व घोषणा करता है।

समाज की रूढ़ियों और संस्कार ग्रस्त सामाजिक मानयताओं की कठोरता भी कंकाल में प्रगतिशील दर्षष्टि से चित्रित की गयी है। जो समाज वैश्याओं को प्रश्रय देता है, स्त्रियों का व्यवसाय करता है, वही अपनी झूठी मर्यादा स्थिर रखने के लिये व्यवस्था अतिक्रमण करने वालों को कठोर दण्ड भी देता है। प्रसाद ने इस सम्बन्ध में व्यंग्य भी किया है उन्होंने दिखाया है ''कि समाज में सब वर्ण संकर है। रक्त शुद्धि का दावा निस्सार है, पर समाज अवैध सन्तानों का तिरस्कार करता है। जिस समाज में वर्ण शुद्धि का प्रमाण नहीं मिलता वही वर्ण संकरों के प्रति कठोर वयवहार करता है। उसका यह दंभ उसकी व्यंग्य स्थिति को छिपा नहीं सकता।''[8] जिन व्यक्तियों की अपने जन्म की वैधता प्रमाणित नहीं है वही दूसरों पर लांछन थोपते है, ऐसा समाज और उसकी मर्यादा निस्सार है, दम्भपूर्ण आत्मवंदना का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा। समाज जैसा बाहर से दिखता है भीतर से भी वैसा ही नहीं है यमुना मंगल से कहती है – कभी–कभी ये भी विचारती कि संसार दूर से नगर, जनपद, बोध–श्रेणी, राजमार्ग और अट्टालिकाओं से जितना शोभन दिखायी पड़ता है वैसा ही सरल और सुन्दर भीतर नहीं। जिस दिन में अपने पिता से अलग हुयी, ऐसे ऐसे निर्जज्ज और नीच मनोवषत्तियों के मनुष्यों से सामना हुआ जिन्हें पशु भी कहना उनहें महिमान्वित करना है।''[9] कंकाल समाज की आन्तरिक तुरूपता का सच्चा चित्र प्रस्तुत करने का एक प्रयास करता है। कंकाल समाज के विरूद्ध विद्रोह करता है और व्यक्ति के लिये पूरे पूरे अधिकार चाहता है समाज के कडघरे में बन्द करके व्यक्ति को बोना बना दिया गया है उपन्यास को यह सहन नहीं है। ''पाप क्या है? पाप और कुछ नहीं है, जो कुछ समाज के भय से छिपकर किया जाता है, वही पाप है। कंकाल की इस परिभाषा में समाज को ही पाप का प्रेरक बतलाया गया है और पाप का दायित्व समाज के ऊपर है तथा समाज और उसके अनुशासनों के बाहर पान की कही सत्ता नहीं है, यह भी स्पष्ट निर्देश दिया गया है।''[10] पाप की प्रेरणा व्यक्ति को समाज से मिलती है, विवश व्यक्ति समाज–चक्र का बलात् अनुसरण करने वाला एक सामान्य पुर्जा है, एक क्षण के लिये भी वह विचार नहीं कर सकता कि पाप पुण्य के हम स्वयं निर्णायक हो। समाज को अपनी स्थिति का परिचय देने की क्षमता भी उसमें नहीं है, सुनवाई की प्रार्थना का अधिकार भी समाज ने उससे छीन लिया है। स्थिति यह है–कि मनुष्य जड़ समाज–यन्त्र द्वारा निरन्तर पीसा जा रहा है, उसकी विचारणा और भावना अवरूद्ध है और इस

समाज यंत्र से लाभ उठाने वाले उच्च पदस्य और सशक्त वर्ग के लोग है। पाप के भारत को सिर पर रखे हुए भी वे उस पर कई प्रकार के आवरण डाल देने में समर्थ है। धर्म के नाम पर दंभ और पाखंड, अपनी निष्ठुरता से सशक्त लोगों को मर्याहित करते है मात्र भौतिक वस्तुओं पर ही नहीं, भावानपर भी इम्भी और पाखण्डी धार्मिकों में बांट लगा रखा है। सच्चे और ईमानदार त्याज्य है, धर्म और भगवान भी दंगी और पाखंडियों का साथ देता है। पाप और पुण्य की समस्या धर्म की समस्या है प्रसाद जी इसीलिए पाप और पुण्य में नहीं, सर्वथा प्रगतिशील होकर कर्मवाद में विश्वास रखते है। कंकाल भुखमरी और दरिद्रता और भूख की ज्वाला में जलते प्राणियों के प्रति सहानुभूति अवश्य दिखायी है किन्तु इसका लांकव्यापी प्रभाव अंकित नही कर पाये है उन्होंने लिखा है–''इस देश की दरिद्रता कैसी विकट है–कैसी नष्शंस है। कितने ही अनाहार से मरते है। कंकाल पष0 50 फिर कंकाल में ही उन्होंने इसका चित्रण किया है – ''दासियों झूठी पत्तर बाहर फेंक रही थी। ऊपर की छत से पूरी ओर मिठाइयों के टुकड़ों से लदी हुयी पत्तलें उछाल दी जाती थी। नीचे कुछ अछूत डोम–डोमनियां खड़ी थी, जिनके सिर पर टोकरियां थी। हाथ में डंडे थे– जिनसे वे कुत्तों को हटाते थे और आपस में मार–पीट गाली गलौच करते हुए उस उच्छिष्ट की लूट मचा रहे थे – वे पुश्त दर पुश्त झमेले। उपन्यासकार इसको ''पुण्य का उत्सव' कहकर व्यंग्य करता है। उसमें दशाश्वमेद्य घाट पर लोटती दरिद्रता पर भी दर्षष्टिपात किया है किन्तु यह वह अर्थ विषमता दिखाने से अधिक धर्मनिष्ठ समाज पर व्यंग्य करने के लिये करता है।''[11]

कहना न होगा कि ''कंकाल'' व्यक्ति की आत्मा की मुक्त आवाज है। उपन्यास आधुनिक बुद्धिवाद की प्रणाली से भी पष्थक् है तो दूसरी ओर रूढ़िग्रस्त आदर्शवाद को भी प्रश्रय नहीं देता। हमारे साहित्य में जिस आदर्शवाद का अतिरेक हो चला था और प्रेमचन्द जी के प्रतिनिधित्व में जिसके विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुयी उसी कड़ी में कंकाल जुड़ता है प्रेमचन्द्र जी के ''कायाकल्प'' की भांति ''कंकाल'' भी हिन्दू मुस्लिम समस्या प्रस्तुत करता है किन्तु प्रेमचन्द जी के आदर्शवादी नाटक और महापुरूषोचित व्याख्यानों से अलग हटकर ''कंकाल'' में व्यावहारिक दर्षष्टि अपनायी गयी है। वह सामान्य मानवीय धरातल पर से ही मानो प्रणत होकर कहता है – ''जो दुर्बल मनुष्य, पहले अपने को देख। हिन्दू–मुस्लिम ईसाई तो हुये समान न बनाया है। मूलतः तू मानव है। तू अपने को धार्मिक और खानदानी समझता है, किन्तु सच पूछे तो तेरी मस्त का कोई ठिकाना नहीं है। धार्मिकता और खानदानीपन की आड़ में तू प्रतिदिन पतित ही होता गया है, जिसका परिणाम यह है कि आज तू अपनी प्रवष्त मानवता से वंचित होकर वासनाओं का गुलाम बन गया है। आज तुझमें और तेसे समाज में एक भी सत्प्रेरणा, सद्गुण और सत्पुरूष नहीं रहा, इसलिए पहले उठकर अपना घर संभाल।''[12] इस प्रकार समाज के शीशे में उपन्यासकार उसके सभी भद्दे, क्रूप और ग्लानिजनक चित्र दिखाने का प्रयास करता है इसमें यथार्थवाद के प्रगति शील बीज निहित है।

''तितली'' के कथानक में कथा शिल्पी प्रसाद ने अपने अर्थगर्भित सूत्रों से अनेकों ऐसे संकेत दिये है जिनका उपयोग परिवार, राष्ट्र और मानवता के निर्माण में हो सकता है। ''तितली'' में अभिव्यक्त प्रसाद के भावों को आत्मसात् करके कोई भी समाज अपने विघटनशील सामाजिक परिवेश और धर्म के अनुशासन को सरल और स्वाभाविक पद्धति से सुधार सकता है। इसमें दो

कथायें साथ–साथ चलती है एक ओर ग्राम–संगठन में संलग्न जमींदार इन्द्रदेव की कहानी है जिसमें आंग्ल युवती शैली भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट होती है, दूसरी ओर मधुबन और तितली की कहानी है। कथाकार प्रसाद ने सम्मिलित कुटुम्ब वयवस्था और ग्राम सुधार जैसे विषयों के माध्यम से अपनी प्रगतिकामी विचारधारा प्रस्तुत की हैं उपन्यास में सांकेतिक ढंग से ग्राम्य जीवन की दरिद्रता और अर्थ–वैषमय को प्रस्तुत किया गया है। जिसमें ढोंगी तथा पाखंडी धार्मिकों का भी पर्दाफाश किया गया है बिहारी जी के महंत की काली करतूतों का भंडाफोड़ कर हमारे मंद धार्मिक जीवन की असलियत उखाड़ी गयी है।

सम्मिलित कुटुम्ब–प्रथा के सम्बन्ध में यह उपन्यास स्वतन्त्र दर्षष्टि देता है। वर्तमान अर्थ–प्रधान समाज व्यवस्था में यह संगठन टिक नहीं रहा है। पारिवारिक सम्बन्ध स्वार्थ सम्बन्ध ाों में परिणत हो गये है इस संबंध में प्रसाद जी प्रगतिशील ढंग से विचार करते हुये कहते है – ''मुझे धीरे धीरे विश्वास हो चला है कि भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की योजना की कढ़ियां चूर चूर हो रही है। वह आर्थिक संगठन अब नही रहा, जिसमें कुल का एक प्रमुख सबके मस्तिष्क का संचालन करता हुआ रूचि की समता का भार ठीक रखता था। मैने जो अध्ययन किया है उसके बल पर इतना तो कह ही सकता हूॅ कि हिन्दू समाज की बहुत सी दुर्बलतायें इस खिचरी कानून के कारण हैं प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्ति चेतना का उदय होने पर एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकुल परिस्थिति में देखता है। इसीलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जी वन दुखमयी हो रहा है।''[13] वर्तमान युग अर्थ–प्रधान हो चला है और पारिवारिक अर्थ व्यवस्था का हिन्दू समाज के विघटन में महत्वपूर्ण हाथ है क्योंकि मध्य वर्ग के उदय से हमारे वर्तमान समाज में नवीन अर्थ व्यवस्था का जन्म हुआ है जिसमें निर्वाह का आधार नौकरी है। हिन्दू समाज का मूल स्तम्भ ''सम्मिलित परिवार'' जर्जर होकर ढह रहा है। ''तितली'' में अभिजात वर्ग की कौदुम्बिक जर्जरता का चित्रण किया गया है। अर्थ–पराधीन नारी ने भी अपने विद्रोही स्वर से पारिवारिक जीवन को और भी जर्जर कर दिया है। प्रसाद जी की मान्यता है कि ''स्त्रियों का उनही आर्थिक पराधीनता के कारण जब हम स्नेह करने के लिये बाध्य करत है तब उनके मन में विद्रोह की दर्षष्टि भी स्वाभाविक है। आज प्रत्येक कुटुम्ब उनके स्नेह और विद्रोह के दष्वन्द्व से जर्जन और असंगठित है। हमारा सम्मिलित कुटुम्ब उनकी इस आर्थिक पराधीनता की अनिवार्य असफलता है। उनहें चिरकाल से बंचित एक कुटुम्ब के आर्थिक संगठन को ध्वस्त करने के लिये दिन रात चुनौती मिलती रहती हैं जिस कुल से थे आती है उस पर ये ममता हटती नहीं, यहां भी अधिकार की कोई संभावना न देखकर ये सदा घूमने वाली गष्हहीन अपराधी जाति की तरह प्रत्येक कौटुम्बिक शासन को अव्यवस्थित करने में लग जाती है। यह किसका अपराध है? प्राचीन काल में स्त्री–ध ान की कल्पना हुयी थी किन्तु आज उसकी जैसी दुर्दशा है जितने काण्ड उसके लिये खड़े होते है, वे किसी से छिपे नहीं।''[14]

प्रसाद जी के प्रगतिशील चिन्तन के व्यावहारिक निष्कर्ष भी सर्वथा पुष्ट है। वह निष्कर्षात्मक भाषा में लिखते है – ''यह भीषण आर्थिक युग है जब तक संसार में कोई ऐसी निश्चित व्यवस्था नहीं होती कि प्रत्येक व्यक्ति बीमारी में पथ्य और सहायता तथा बुढ़ापे में पेट

के लिये भोजन पाता रहेगा, तब तक माता पिता को भी पुत्र के विरूद्ध अपने लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करनी होगी।''[15] इस व्यक्तिगत स्वार्थन्धता का अंत तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति की आवश्यकताओं का दायित्व समाज ग्रहण करें। इस तरह प्रसाद जी ने एक समाजवादी प्रगतिशील दर्शन प्रस्तुत किया है।

ग्राम्य–जीवन के चित्रांकन में प्रसाद जी ने देहातियों और कष्कों की दरिद्रता और विवशता का विशद् अंकन किया है। ''धामपुर के कई गांव में पाला ने खेती चौपट कर दी थी। किसान व्याकुल हो उठे थे। तहसीलदार की कड़ाई और भी बढ़ गयी थी। जिस दिन रामजस का भाई पथ्य के अभाव मे मर गया और उसकी मां भी पुत्र शोक में पागल हो रही थी। उसी दिन जमींदार की कुर्की पहुंची। पाला से जो बचा था, वह जमींदार के देन में चला गया। खड़ी फसल तुर्क हो गई।''[16] पेट के प्रश्न पर शक्ति सम्पन्न और पाखण्डी लोग अभाव पीड़ितों को सब प्रकार के नाच नचाते है। उनमें विद्रोहात्मक भावना जागती है छोटी– छोटी बातों को लेकर जमींदार और सरकारी कर्मचारी किसानों को आपस में लड़ाते रहते हौ और फूट पैदा करके राज्य करते है।

प्रसाद जी ने गांव की भूमि और मालगुजारी समस्या पर भी व्यापकता से विचार किया है, वह ग्राम सुधार की एक विस्तष्त प्रगतिकामी योजना भी प्रस्तुत करते है ''शैला की योजना के अनुसार किसानों का एक बैंक और एक होम्योपैथी की निःशुल्क औषधालय सबसे पहले खुलना चाहिए। गांव का जो स्कूल है उसे भी अधिक उन्नत बनाया जा सकता है। एक अच्छा सा देहाती बाजार बसाना होगा, जिसमें करधे के देहाती कपड़े, अन्न, बिसातीसाना और आवश्यक चीजें बिक सके। गष्हशिल्प को प्रोत्साहन देने के लिये वहीं से प्रयत्न किया जा सकता है। किसानों में खेतों के छोटे छोटे टुकड़े बदलकर उनका एक जगह चक बनाना होगा, जिसमें खेती की सुविधा हो।''[17] प्रसाद का जीवन नगर में बीता है पर तितली में ग्रामों की ओर उनका झुकाव स्पष्ट है। फिर भी ग्राम जीवन का चित्रएर इसमें उतना सफल नहीं जितना सफल ग्राम सुधार की समस्याओं का स्पष्टीकरण।''[18] प्रसाद जी के द्वारा प्रस्तुत ग्राम सुधार की उपर्युक्त योजना का गांव की आर्थिक और मानसिक उन्नति की दषष्टि से महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। यह सर्वथा व्यावहारिक और सुधारवादी योजना है जो पारस्परिक सहयोग, सहायता और सामूहिक कार्य प्रणाली की पद्धति पर निर्भर है। इसे हम भारतीय समाजवाद या साम्यवाद कह सकते है। प्रसाद की प्रगतिकामी दषष्टि का अंकुरण विदेशी भूमि पर नहीं होता जैसा कि प्रगतिवादी कथाकारों के विषय में सुस्पष्ट है। उनकी प्रगतिकामिता सर्वथा भारतीय दषष्टि से पालित पोषित है जो धामपुर के सुधार चित्रण में प्रतिफलित हुयी है।

'इरावती' प्रसाद जी का अपूर्ण उपन्यास है। जिसे उनहोंने ऐतिहासिक कथानक प्रदान करना चाहा था। बौद्ध धर्म के पतन तथा मौर्य साम्राज्य के विघटन के साथ पुण्यमित्र द्वारा शुगवंश और ब्राहमण धर्म की प्रतिष्ठा की ऐतिहासिक गाथा इस उपन्यास का आधार हैं प्रसाद जी अपनी सृजनात्मक कल्पना का सहारा लेकर बड़ी कुशलता से इस ऐतिहासिक तथ्य युक्त उपन्यास का सृजन कर रहे थे यदि इसे पूर्णता प्राप्त हो जाती है तो ऐतिहासिक उपन्यासों में यह शीर्ष स्थान का अधिकारी बनता।

इस उपन्यास में प्रसाद जी ने ऐतिहासिक वातावरण का युग सम्मत चित्रांकन किया है। बौद्धों के अनात्मवाद के विरूद्ध इस उपन्यास में आर्यो के आत्मवाद की प्रतिष्ठा की गयी है। बौद्ध आत्मवाद के लोक विरोध की चर्चा करते हुये कथाकार ने लिखा है – ''सर्वसाधारण आर्यो में अहिंसा, अनात्म और नित्थता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी। कामायनी जैसा आनन्दवादी दर्शन इस उपन्यास का भी मूल आधार है जो मानव–कल्याणकारी प्रसाद जैसे अन्वेषक का अन्तिम खोजपूर्ण दर्शन था।

सन्दर्भ ग्रंथ

	पुस्तक का नाम		लेखक	पष्ठ संख्या
1.	जयशंकर प्रसाद	–	आचार्य नन्द दुलोर वाजपेयी	34
2.	कंकाल	–	जयशंकर प्रसाद	186
3.	कंकाल	–	जयशंकर प्रसाद	185
4.	कंकाल	–	जयशंकर प्रसाद	185
5.	कंकाल	–	जयशंकर प्रसाद	119–120
6.	कंकाल	–	जयशंकर प्रसाद	119
7.	कंकाल	–	जयशंकर प्रसाद	190–191
8.	कथाकार जयशंकर प्रसाद		हरस्वरूप माथुर	71
9.	कंकाल	–	जयशंकर प्रसाद	22
10.	जयशंकर प्रसाद	–	आचार्य नन्द दुलोर वाजपेयी	39
11.	कथाकार जयशंकर प्रसाद		हरस्वरूप माथुर	79
12.	कंकाल	–	जयशंकर प्रसाद	43–44
13.	तितली	–	जयशंकर प्रसाद	109
14.	तितली	–	जयशंकर प्रसाद	147
15.	तितली	–	जयशंकर प्रसाद	249–250
16.	तितली	–	जयशंकर प्रसाद	64
17.	तितली	–	जयशंकर प्रसाद	72–73
18.	हिन्दी कथा साहित्य–		गंगा प्रसाद पाण्डेय	77